Journal of Advances and Scholarly Researches in Allied Education
Vol. 15, Issue No. 12, December-2018, ISSN 2230-7540

बुन्देलखण्ड के परिपेक्ष्य में लोक संचार माध्यमों के विकास में आल्हा लोक कथा का महत्व

Jai Singh[1]* Prof. C. P. Painuli[2]

[1] Assistant Professor, Bhaskar Institute of Mass Communication and Journalism, Bundelkhand University, Jhansi

[2] Assistant Professor, Bhaskar Institute of Mass Communication and Journalism, Bundelkhand University, Jhansi

सारांश – *संचार एवं सम्पर्क सामाजिक अंतःक्रिया के अनिवार्य तत्व हैं। सभ्यता के विकास से लेकर मुद्रण यन्त्र के आविष्कार तक यही लोक माध्यम समाज में सन्देश प्रसारण का कार्य करते थे। बुन्देलखंड जनपद जितना विशाल है, उतना ही समृद्ध भंडार है लोकसाहित्य का। इसी प्रकार यहाँ के लोक की विविधता के कारण लोकसाहित्य भी विविधता के रंगों से रंजित है।[1] अब चूकिं लोककाव्य वाचिक परम्परा का साहित्य है, इस जनपद में वाचिक परम्परा का उद्भव 10वीं शती में हुआ था, जब दिवारी गीत, सखयाऊ फाग, राई और लमटेरा गीत रचे और गाए गए। 12वीं शती में रचित लोकमहाकाव्य 'आल्ह' दूसरे प्रकार का गाथा-रूप था। उसका 'आल्ह' छन्द देवी गीतों की गायकी से निसृत हुआ था।[2] "आल्हा" गाथाओं की मौखिक और लिखित, दोनों परम्पराएँ आज तक जीवित हैं और विशेषता यह है कि दोनों में जागरूकता और ताजगी है। पहली परम्परा है मौखिक, जो लोक और अधिकतर अल्हैतों में सुरक्षित है।[3] अल्हैतों या आल्हा-गायकों की अपनी अलग-अलग परम्परा गुरू से शिष्यों तक चलती हुई आज तक बनी हुई है। आल्हा के प्रचलित रूपों में प्रमुखतः पाँच प्रकार हैं आल्हखण्ड के वर्तमान विविध रूपों में आल्हखण्ड के मूल रूप की खोज करना अत्यंत कठिन है। फिर भी विविध रूपों में एक ऐसी समानता भी दिखलाई पड़ती है, जिससे एक पुराने और जनप्रचलित रूप की खोज की जा सकती है।*

----------X----------

परिचयः

संचार मानव जीवन की वह केन्द्रीय अवधारणा है, जिससे उसके जीवन के अस्तित्व की निरन्तरता निर्धारित होती है। संचार एवं सम्पर्क सामाजिक अंतःक्रिया के अनिवार्य तत्व हैं, जिनकी पुनरावृत्ति सामाजिक सम्बन्धों को निर्मित करती है। वस्तुतः सामाजिक सम्बन्धों का जाल ही समाज कहलाता है। अतः संचार समाज के अस्तित्व के लिए अनिवार्य है।[4]

पारम्परिक लोक माध्यमों का उद्भव आदिकाल में ही हुआ है। जब मनुष्य संचार का अर्थ भी नहीं जानता था तब से ये माध्यम अस्तित्व में है। सभ्यता के विकास से लेकर मुद्रण यन्त्र के आविश्कार तक यही माध्यम समाज में सन्देश प्रसारण का कार्य करते थे। संचार का यह सर्वाधिक प्रभावी माध्यम है। इन माध्यमों के द्वारा साक्षर तथा निरक्षर दोनों ही समूहों सार्थक एवं प्रभावी ढंग से सन्देश प्रसारित किए जा सकते है। इन माध्यमों के अन्तर्गत लोकसाहित्य, धार्मिक प्रवचन कथा, वार्ता, गीत, संगीत, लोकसंगीत, लोककलाएं, लोकनाट्य आदि आते है। इन लोक माध्यमों की सबसे बडी विषेशता है कि मनुष्यों द्वारा उस समूह की संस्कृति, भाषा, परिवेश एवं रुचि के अनुरूप सन्देशों का सम्प्रेषण किया जाता है जिस समूह में सन्देश प्रसारित करना होता है।[5]

बुन्देलखंड जनपद जितना विशाल है, उतना ही समृद्ध भंडार है लोकसाहित्य का। इसी प्रकार यहाँ के लोक की विविधता के कारण लोकसाहित्य भी विविधता के रंगों से रंजित है। मोटे तौर पर लोकसाहित्य की सम्पदा का वर्गीकरण निम्नानुसार किया जा सकता है विधागत वर्गीकरण (अ) लोककाव्य, जिसमें लोकगीत और लोकगाथाएँ, दोनों सम्मिलित हैं। (ब) लोककथा (स) लोकनाट्य (द) लोकोक्ति, जिसमें कहावतें और पहेलियाँ सम्मिलित हैं।[6]

अब चूकिं लोककाव्य वाचिक परम्परा का साहित्य है, वाचिक परम्परा किसी जनपद या राष्ट्र की वह सांस्कृतिक धरोहर है,

www.ignited.in

जो नित नवीन स्रोतों से जल ग्रहण करती सरिता की तरह प्रवहमान रहती है और देश-काल की चेतना के दोनों किनारों को सिंचित करती हुई आगे बढता है वाचिक परम्परा वह है, जिसमें स्मृत या लिखित रूप में सुरक्षित गीत, कथा, कहावत, सुभाषित, सूक्ति आदि कथ्य वक्ता से श्रोता या श्रोताओं तक पीढ़ी-दर-पीढी संक्रमित होता रहता है। इस प्रकार इसमें वक्ता, श्रोता और कथ्य तीन पक्ष होते हैं। वक्ता की विशेषता है वाक्शक्ति और उसका अमिट प्रभाव। वह श्रोता या श्रोताओं के समूह के हित में उनके लोकजीवन और उसकी संस्कृति को इस तरह अभिव्यक्त करता है कि श्रोता उसे अपना मानकर ग्रहण करते हुए आनन्दित हो जाता है। इस प्रक्रिया में वक्ता की श्रोता के प्रति आत्मीयता ही श्रोता से जोड़ने का काम करती है। उसका हृदयस्पर्शी संवाद श्रोता के हृदय में संवेदित हो जाता है। दोनों ओर से सक्रिय इस संवाद में श्रोता भी निष्क्रिय नहीं रहता, वरन् उसकी बुद्धि और हृदय, दोनों अपनी क्षमता या शक्ति के स्तर के अनुरूप कथ्य का भावन और आस्वादन करते हैं। स्पष्ट है कि वक्ता को सामने बैठे श्रोता के अनुकूल अपने कथ्य को कहता है।

बुन्देलखण्ड में वाचिक परम्परा का विकास तथा "आल्हा" का उदभव

इस जनपद में वाचिक परम्परा का उद्भव 10वीं शती में हुआ था, जब दिवारी गीत, सखयाऊ फाग, राई और लमटेरा गीत रचे और गाए गए। दिवारी गीत और सखयाऊ फाग के उद्भव का अपभ्रंश का लाड़ला छन्द दोहा था, जबकि राई और लमटेरा गीतों का दोहे से जुड़ी लटकनिया। दिवारी और फाग गीत यादवों की संस्कृति की उपज थे, जो इस जनपद में महाभारत-काल से लेकर चन्देलों के उत्कर्ष-काल तक छाई रही। इसे चरागाही संस्कृति भी कहना उचित है। चरागाही संस्कृति को केन्द्र में रखकर और प्राकृत की 'गाहा' के आधार पर यहाँ लोकगाथाएँ भी रची गईं, जिनके दो रूप थे, एक तो 'गहनई' जैसा संक्षिप्त आख्यानक गाथा-रूप और दूसरा कारसदेव की गाथा जैसा महाकाव्यात्मक गाथा-रूप।[7]

12वीं शती में रचित लोकमहाकाव्य 'आल्ह' दूसरे प्रकार का गाथा-रूप था। उसका 'आल्ह' छन्द देवी गीतों की गायकी से निसृत हुआ था। शक्ति-पूजा तो बहुत पुरानी है, पर चन्देल-काल में शिव-पूजा के साथ-साथ उसका भी उत्कर्ष रहा। अतएव देवी गीत लोकप्रिय होकर लोकप्रचलित हुए। युद्धों और संघर्षों के वर्णन राछरे गीतों का प्रमुख प्रतिपाद्य था। एक प्राचीन राछरे कजरियन कौ राछरौ' में बहिन की कजरियाँ खोंटने की रक्षा में भाई ने वीरतापूर्वक युद्ध किया था, जिससे कजरियों जैसा कृषिपरक उत्सव बहिन-भाई के प्रेम से जुड़ गया। 'आल्हा' की कथा में देवी गीत की लोकधुन में प्रायोजित स्वरों में थोड़े-से परिवर्तन के बाद वीररसपरक गायकी से राछरों के युद्धपरक कथ्य को इतनी महत्ता मिली कि बुन्देलखंड की यह लोकवाचिक परम्परा उत्तर भारत के जनपदों में फैल गई और बैसवाड़ी, कन्नौजी, ब्रजी जैसी पश्चिमी हिन्दी की बोलियों में ही नहीं वरन् बघेली, अवधी, भोजपुरी जैसी पूर्वी हिन्दी की बोलियों में भी 'आल्हा' गाथाएँ गाई गईं। इस प्रकार लोकवाचिक परम्परा के उत्कर्ष का प्रतीक 'आल्हा' बना रहा और आज भी उसी के माथे उत्कृष्टता का मुकुट शोभित है। जिसने परम्परागत शैलियों के इतर वीररसपरक शैली को जन्म दिया, जो परम्परागत धार्मिक शृँगारपरक शैली को वीररस से जोडती दिखती है।[8]

लिखित लोकवाचिक परम्परा

इस परम्परा में वे रचनाएँ हैं, जो लोकमुख में नहीं आ सकीं, परन्तु उनमें वे लोकतत्त्व मौजूद हैं, जिनसे कोई रचना लोकमुख में आकर लोकप्रचलित हो जाती है। एक उदाहरण उस बारामासी का है, जो हिन्दी साहित्य का वृहद इतिहास (सोलहवें भाग) में बुंदेली लोकसाहित्य के अन्तर्गत उद्धृत की गई है। कवि जगन्नाथ द्वारा रचित यह बारामासी मुझे बारामासियों के हस्तलिखित संग्रह में मिली है। उस संग्रह की सभी बारामासियाँ लोकगीत की संज्ञा पाने की अधिकारिणी ठहरती हैं, पर वे लोकमुख में नहीं आ पाईं। इसी प्रकार कवि प्रेमदास गहोई की रचना 'गेंदलीला' 1770 ई. में रची गई और लोकप्रचलित हो गई, लेकिन उन्हीं की लिखी अन्य लीलाएँ उसी कोटि की होती हुई भी लोकप्रिय न हो सकीं। रामरसिक भक्त और कृष्णमाधुर्योपासक कवयित्रियों ने दादरा, मंज, फाग आदि में अनेक रचनाएँ लिखी हैं, जिनमें कुछ लोकप्रचलित हैं और कुछ केवल लिखित। फागों, खयालों, सैरों रचनाओं की यही स्थिति है। अतएव उन्हें लिखित लोकवाचिक परम्परा में स्थान दिया गया है।[9]

वीररसपरक राष्ट्रीय काव्य-धारा में आल्हा राइछौ (17वीं शती), प्रथीराज कौ दरेरौ (18वीं शती), शिबू दा का आल्हा (19वीं शती), नवलसिंह प्रधान का आल्हा (19वीं शती) और दिशाराम भट्ट का आल्हा (19वीं शती) आल्हा गाथा की विषय-वस्तु पर आधारित हैं। कटक काव्यों में छत्रासाल जू कौ कटक (18वीं शती), पारीछत कौ कटक (19वीं शती), झाँसी कौ कटक (19वीं शती) एवं मिलसाए कौ कटक (19वीं शती) अब तक उपलब्ध हुए हैं। इन लोकप्रबन्धों में ऐतिहासिक वीरों के शौर्य और उनके जन्मभूमि के प्रति प्रेमभाव को अभिव्यक्ति मिली है। गेय लोकमुक्तकों में द्विज किशोर, लघुदास नीखरा, भग्गी दाऊ जू, चतुरेश नीखरा की सैरें और मंजें लोकप्रिय हुई थीं।

www.ignited.in

लोकवाचिक परम्परा का विकास

इस परम्परा में कथाकाव्य-धारा महत्त्वपूर्ण रही है। सर्वप्रथम महाकवि विष्णुदास ने 1435 ई. में पांडव कथा 'महाभारत' की रचना की, फिर 1442 ई. में 'रामायण-कथा' की। 'महाभारत' आदि पर्व में ही 'कहना' और 'सुनना' क्रियाओं का प्रयोग किया है

सुनहु देव इक चितह समानी। गोगहु भारथु कहों बखानी।।

जो फल गंगा न्हान तें, सो भारथ तें जानि।

पंडव कौरवनि आदि तें, उतपति कहों बखानि।।

आदिपर्व तें कहों बखानी।

सुनियहु पंडित कथा सुजानी।।

इसी तरह अन्तिम पंक्तियों में 'कथा श्रवन करि देहि जे दानू' से स्पष्ट है कि 'महाभारत' इस परम्परा का प्रथम ग्रन्थ है। 'रामायन-कथा' में भी 'कहने' और 'सुनने' की संवादात्मकता है। कवि प्रथम छन्द में ही संकेत दे देता है'सुनत हुलास जीव संतोषु। कहत कथा नर पावै मोषु।।' साथ ही रामायन-कथा के कई वक्ता और श्रोता हैं। नारद-वाल्मीकि, ब्रह्मा और शिव के युग्म भी है, भले ही पंक्तियाँ स्पष्ट न हों।[10]

कथा रचने के लिए बीड़ा लेना और प्रण करना तथा लोकमानस को जाग्रत करने के लिए कथा-वाचन करना बुन्देलखंड के कथाकारों की उल्लेखनीय प्रवृत्ति रही है। एक ओर वे दृढ संकल्प कर लोकभाषा या भाषा की सेवा करते थे, तो दूसरी ओर कविता को लोक-जागरण का सशक्त माध्यम बनाते थे। लोकमंच पर कथा-वाचन साहस का काम था, जो मध्ययुग के कथाकारों ने सफलतापूर्वक सम्पन्न किया था।

वाचिक शैली वह है, जिसमें या तो वक्ता-श्रोता की संवादात्मकता प्रमुख होती है या आश्रित कवि अपने आश्रयदाता को रचना सुनाता है अर्थात् वक्ता स्वयं कवि एवं श्रोता आश्रयदाता और दरबारी होते है। 1526 ई. के लगभग रचित 'परमाल रासो' में वक्ता-श्रोता की सूची मिलती है

चन्द बचन जे उच्चरे, ते भक्खत सुनु राज (2-24)

सो रावल वनन सुनो, वदति चन्द बरदाय। (3-1)

अनँगपाल सह व्यास कहि, रावल सो कहि चन्द। (3-3)

कहत जगन कविराज वर, सुनि नृप पंगुलराय (15-234)

रासो-परम्परा में गुणवन्त भाट के 'सत्राजीत राइसौ' (1801 ई.) दूसरे प्रकार की शैली का संकेत करता है

"आल्हा" का विकास तथा वर्तमान स्वरूप

"आल्हा" गाथाओं की मौखिक और लिखित, दोनों परम्पराएँ आज तक जीवित हैं और विशेषता यह है कि दोनों में जागरूकता और ताजगी है। पहली परम्परा है मौखिक, जो लोक और अधिकतर अल्हैतों में सुरक्षित है। अल्हैतों या आल्हा-गायकों की अपनी अलग-अलग परम्परा गुरू से शिष्यों तक चलती हुई आज तक बनी हुई है। यह परम्परा लोककवि जगनिक के आल्हा-गायन से प्रारम्भ हुई थी। दलपतिराय रासो (1707 ई.) में तो "भाट जगनक्क" के प्रति वही सम्मान प्रकट किया गया है, जो एक महाकवि की गरिमा के लिए उपयुक्त है। साथ ही यह तथ्य प्रचलित है कि आल्हा का रचयिता जगनिक भाट है, जो दिल्ली के चैहान नरेश पृथ्वीराज के 1182-83 ई. में आक्रमण के समय मौजूद था। राष्ट्रीय महत्व के इस युद्ध को लोककवि ने अपनी आँखों से देखा था, तभी उसके उपरान्त "आल्हा" की रचना हुई थी। 1192 ई. के तराइन के पास ऐतिहासिक युद्ध में चैहाननरेश पृथ्वीराज तृतीय ने अपने प्राणों का बलिदान किया था, जिसे "आल्हा" में महत्व नहीं दिया गया। स्पष्ट है कि आल्हा की रचना 1183 ई. एवं 1192 ई. के बीच हुई थी। इसी अवधि में जगनिक ने "आल्हा" को लोक के सामने गाकर सुनाया था, जो तत्कालीन गायकों के माध्यम से लोकप्रचलित हुआ था। लोककवि जगनिक के बाद उसके सुपुत्र जल्हण का पता महोबा समय, परमाल रासो, वीरविलास आदि ग्रंथों और अल्हैतों के साक्षात्कार से चला है, लेकिन अधिक से अधिक वह 13 वीं शती के प्रथमार्द्ध में जगनिक के आल्हा को चंदेलराज्य के प्रसिद्ध नगरों तक फैला सका था। बाद के चार सौ वर्ष अंधकार युग को दर्शाते हैं, क्योंकि 1700 ई. के पूर्व किसी आल्हा-गायक का नाम नहीं मिलता। चंदेलों के पराभव के बाद मुसलमान सेनाओं के आक्रमण होते रहे। तोमरों का प्रभावशाली शासन ग्वालियर-राज्य पर 15 वीं शती में, गोंड़ों का गढ़ा-मंडला राज्य 16 वीं शती में और बुंदेलों का 16 वीं शती से उल्लेख्य है। बिखरे टुकड़ों और एकता के अभाव ने संकट-काल में भी "आल्हा" का स्मरण नहीं किया, यह एक आश्चर्य है।[11]

आल्हखण्ड की हस्तलिखित प्रति उपलब्ध न होने के कारण उसके मूलरूप का निश्चय तो कठिन कार्य है, किन्तु अभी तक उसके जो विविध रूप प्रकाश में आये हैं उनका क्रमिक विवरण प्रस्तुत किया जा सकता है। वस्तुतः 12 वीं शताब्दी के उपरांत आल्हा की मौखिक परम्परा इतनी दीर्घ और लोकप्रिय रही है कि उसकी कथा के चारों ओर अनेक कथाचक्र विकसित हो गये

www.ignited.in

हैं। परिणामतः केवल उसकी पूर्वकथा का ही विस्तार नहीं हुआ, वरन् स्थान भेद से उसके विविध रूप एवं स्थानीय भाषाओं या बोलियों में उसके रूपांतर धीरे-धीरे जनप्रचलित हो गये। इस विकसनशील प्रवृत्ति के कारण कई प्रकार की भ्रांतियाँ भी पनपती रहीं, जिनका निराकरण बाद में किया जायेगा। पूरे उत्तर भारत में अल्हैतों द्वारा गाये जाने से स्थानीय बोलियों में जो अनेक रूप प्रचलित हुए, उनमें स्थानीय रंग के साथ कुछ किंवदंतियाँ, नाम, घटनाएँ और वर्णन भी जुड़ते गये। किन्तु विविध रूपों के समस्त कथाचक्रों को भी संग्रहीत करने का प्रयास नहीं हुआ केवल कुछ भागों और उनके अनुवादों का प्रकाशन ही संभव हुआ। डॉ. ग्रियर्सन कवि चन्द कृत पृथ्वीराज रासो के महोबा≤ को परवर्ती रचना मानते हुए आल्हखण्ड की पश्चिमी वाचना कहते हैं। डॉ. शंभूनाथ सिंह ने उसे 16 वीं से 18 वीं शती के बीच में विकसित आल्हखण्ड का लघु साहित्यिक रूपान्तर माना है। इसी प्रकार बाबू श्यामसुन्दर दास द्वारा संपादित परमाल रासो को कुछ विद्वानों ने जगनिक का मूलग्रंथ समझ लिया है, जबकि दूसरे विद्वान उसे महोबा≤ का विकसित रूप या आल्हखण्ड का बृहत् साहित्यिक रूपान्तर सिद्ध करते हैं। उन्नीसवीं शती से वर्तमान में प्रचलित आल्हा के विविध रूपों की एक परम्परा-सी उजागर होती है ग्रियर्सन ने उन्हें पश्चिमी और पूर्वी रूपान्तर के दो वर्गों में विभाजित कर दिया है। पश्चिमी रूपान्तर में भटपुरिया के चैधरी घासीराम और फतेहगढ के ठाकुरदास के सम्पादन हैं। पहले में खड़ी बोली का, दूसरे में कन्नौजी का पाठ है। कन्नौजी पाठ का संग्रह फरूक्खाबाद के जिलाधीश सर चाल्स इलियट की देख-रेख में हुआ था और उसका अनुवाद वाटरफील्ड ने 1975-76 ई. में बैलैड छंद में दि नाइन लैक चेन (नौलखा हार) या दि मारू फ्यूड (मारू युद्ध) नाम से किया था तथा कलकत्ता रिव्यू में उसे प्रकाशित करवाया था। ग्रियर्सन ने आल्हा के वही (कन्नौजी) पाठ के कुछ भागों का गद्यानुवाद कर "दि ले ऑफ़ आल्हा" नाम से सन् 1923 ई. में प्रकाशित किया था। बुंदेली पाठ के कुछ भागों का संग्रह प्रसिद्ध इतिहासकार विन्सेण्ट स्मिथ ने किया था और उसके दो अंशों को ग्रियर्सन ने अपने ग्रंथ "दि लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ़ इण्डिया" में अनुवाद सहित उद्धत किया है। पूर्वी रूपान्तर भोजपुरी और मगही दोनों में उपलब्ध है। भोजपुरी पाठ के एक खण्ड का गद्यानुपाद भी ग्रियर्सन ने 1885 ई. में इंडियन एण्टीकेरी के भाग 14 में प्रकाशित किया है। इसके अतिरिक्त बैसवाड़ी और अवधी में भी रूपान्तर विद्यमान है। बीसवीं शती में आल्हा के बृहत् रूपान्तर प्रकाशित हुए हैं। लखीमपुर खीरी (अवध) के नारायण प्रसाद सीताराम ने प्रसिद्ध अल्हैत पं. भोलानाथ की महोबे की बोली में लिखा बड़ा आल्हखण्ड प्रस्तुत किया। मटरूलाल अत्तार द्वारा मेरठ से प्रकाशित आल्हखण्ड कई खण्डों में विराटाकार होने के कारण असली माना जाने लगा है। असली या मूलरूप की खोज के लिए अल्हैतों और फिर साहित्यकारों में से एक जिज्ञासा दिखाई देने लगी। फलस्वरूप कुछ पाठ अंशों के रूप में संगृहीत हुए। श्री गणेश प्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी के कवि और काव्य-भाग 1 में महोबे और जम्बे की लड़ाई पं. भोलानाथ के आल्हखण्ड-बड़ा से ग्रहण की। दोनों पाठ कुछ शब्द के हेरफेर के साथ एक-से हैं। दूसरा पाठ श्री भोलानाथ द्विवेदी, सिलाकारी ने "आल्हा-मनौआ" कथाभाग का दिया है।

आल्हा के प्रचलित रूपों में प्रमुखतः पाँच प्रकार हैं- (1) प्रकाशित आल्हा, जिनमें मनमाना रूपान्तरण और विस्तार है (2) प्रसिद्ध कवि शिवदयाल, नवलसिंह, देशराज भट्ट आदि द्वारा रचित आल्हा, जो स्थान-विशेष में प्रचलित है। (3) मिश्रित आल्हा, जिसमें पुरानी साखियाँ, रचित और प्रचलित पंक्तियाँ, विभिन्न रासो ग्रंथों या वीर-रसपरक छंदों के उद्वरण सभी मिश्रित हैं (4) अल्हैतों का मौखिक आल्हा, जो गुरू शिष्य परम्परा में कुछ घट-बढ कर एक पीढी से दूसरी पीढी को मिला है (5) गायकों या पाठकों में लोकप्रचलित आल्हा या सैरा, जो लोकमुख में जीवित रहा है और जिसमें हर समय कुछ न कुछ रूपान्तरण हुआ है।

आल्हखण्ड के वर्तमान विविध रूपों में आल्हखण्ड के मूल रूप की खोज करना अत्यंत कठिन है। फिर भी विविध रूपों में एक ऐसी समानता भी दिखलाई पड़ती है, जिससे एक पुराने और जनप्रचलित रूप की खोज की जा सकती है। भले ही उसे आल्हा का मूल रूप न कहा जा सके, पर वह मूल रूप के निकट तो होगा ही। इस रूप या पाठ को निर्धारित करने के लिए वस्तु, भाषा, शैली, छंद की दृष्टि से एक निश्चित कसौटी आवश्यक है। आल्हखण्ड में सभी युद्धों के वर्णन में कुछ ऐसी कथानकरूढियों का प्रयोग किया गया है, जिनके विश्लेषण से एक निश्चित निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है। दूसरे, आल्हखण्ड के विविध रूपों की वस्तु में एक अद्भुत समानता है, जिसे आसानी से परखा जा सकता है। मूल आल्हखण्ड की भाषा बुंदेली थी, जो तत्कालीन मध्यदेशीया के निकट एवं अपभ्रंश से दूर थी क्योंकि लोक प्रबंध में लोकभाषा को ही स्थान देना पड़ता है, साहित्यिक भाषा को नहीं। इसी प्रकार मूल रूप की शैली लोकगाथात्मक या लोककाव्यात्मक थी, जिसे सामने रखने से शैली में एकरूपता की पहचान हो सकती है। छंद की दृष्टि से भी मूलरूप के निकट पहुँचने में सुविधा है।

आल्हखण्ड के प्रारंभिक छंद में उल्लेख है-

श्री गनेस गुरूपद सुमरि, इस्ट देव मन लाय।

आल्हखण्ड बरनन करत, आल्हा छंद बनाय।।

www.ignited.in

इससे प्रकट है कि आल्हखण्ड का मूल छंद आल्ह छंद है और इस दृष्टि से विविध पाठों की परीक्षा संभव है। यह कार्य श्रमसाध्य है, पर शायद इस लेखक का यह प्रयत्न पूरा हो सके।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. गुप्त, नर्मदाप्रसाद, बुन्देली लोक साहित्य परम्परा और इतिहास, सं0 कपिल तिवारी, आदिवासी लोक कला परिशद, 1999.

2. शुक्ल, उमाषंकर, बुन्देलखण्ड के लोकगीत, इण्डियन प्रैस, इलाहाबाद, 2010

3. गुप्त, नर्मदाप्रसाद, बुन्देलखण्ड की लोक संस्कृति का इतिहास, सं. कपिल तिवारी, प्रियंका ऑफ़सेट, भापेाल, 2001

4. Keval J. Kumar (2000). Mass Media in India, Jaico publishing House Delhi

5. Parmar, Shyam (1975). Traditional Folk Media in India, Geka Book, New Delhi

6. मिश्रा, रंजन, बुन्देलखण्ड सांस्कृतिक वैभव, अनुग्या प्रकाशन, 2016.

7. कुलदीप, लोक गीतों का विकासात्मक अध्ययन, प्रगति प्रकाशन, आगरा

8. मिश्र, रामचरण, बुन्देलखण्ड की संस्कृति एवं साहित्य, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1969

9. बादल, श्याम सुन्दर, बुन्देली फाग साहित्य, हिन्दी साहित्य प्रकाशन, हमीरपुर, 1964

10. चौरसिया, मोतीलाल, बुन्देली लोकगीतों का सांस्कृतिक अध्ययन, क्लासिकल पब्लिसिंग कम्पनी, दिल्ली, 1989

11. शुक्ल, उमाशंकर, बुन्देलखण्ड के लोकगीत, इण्डियन प्रैस, इलाहाबाद, 2010

Corresponding Author

Jai Singh*

Assistant Professor, Bhaskar Institute of Mass Communication and Journalism, Bundelkhand University, Jhansi

www.ignited.in